यह मैकालेवादी शिक्षा और वह गांधीवादी शिक्षा

यह क्यों नहीं छूटी और वह क्यों नहीं चली?

दयालचन्द्र सोनी

1. शिक्षा को न केवल विकृत किया गया है, बल्कि उसमें सुधार लाना भी दुष्कर बना दिया गया है।

स्थिति आज यह तो है ही कि हमारी सरकारें गलत शिक्षा से बंधकर बस उसी का तो गुणगान करती हैं, उसी का ढोल पीटकर प्रचार करती हैं, पर इसके साथ-साथ देश के जो प्रौढ़ लोग हैं, अथवा जो माता पिता लोग हैं, उनके मन में भी शिक्षा की यही गलत अवधारणा जमकर बैठ गई है। शिक्षा के विषय में जो अवधारणा पूरे देश पर छा गई है, वह यह है कि शिक्षा मनुष्य का श्रमजीवी एवं निज-व्यवसायी वर्ग से उद्धार करके उसे शुद्ध बुद्धिजीवी तथा ऊंची तथा आश्वस्त आय प्राप्त कराने वाली नौकरी दिलाने के लिए है। आज की स्थिति में जो मछली है, कल की परिस्थिति में वही मछली, मछली वर्ग से त्राण पाकर बगुला वर्ग में कैसे प्रविष्ट हो, इस अरमान को जो पूरा करे उसका नाम आज के जनमानस में शिक्षा है। श्रमजीवी

कैसे बुद्धिजीवी बने, शासित व्यक्ति कैसे शासक बने, शोषित व्यक्ति किस प्रकार शोषक बन सके, इस समस्या तथा इस आकांक्षा की जो प्रक्रिया पूरी करे उसको आज शिक्षा माना जाता है तथा शिक्षा के रूप में पहचाना जाता है। यदि शिक्षा पाकर भी कोई किसान ही या ग्वाला ही, या लोहार, कुम्हार, नाई धोबी, मोची, जुलाहा, स्वर्णकार या तेली तम्बोली या दर्जी ही बना रहा तो शिक्षा व्यर्थ हो जाएगी। ऐसी मान्यता सारे समाज में फैल गई है तथा रूढ़ हो गई है अथवा जम गई है। इतना ही नहीं है, बल्कि यह भी है कि शिक्षा पा लेने पर धोती कुर्ता त्याज्य हो जाना चाहिए, पैंट तथा टाई अनिवार्य हो जानी चाहिए, फर्श पर बैठकर काम नहीं किया जाना चाहिए, टेबल कुर्सी के बिना काम नहीं होना चाहिए, विवाहादि के निमंत्रण अंग्रेजी में दिए जाने चाहिए, बधाई एवं शुभकामनाएं अंग्रेजी में दी जानी चाहिए। अपने घर पर अपनी नाम पट्टिका अंग्रेजी में लगनी चाहिए। हमारा सारा व्यवहार, हमारी सारी चाल-ढाल दुनियां को यह संदेश देने वाली होनी चाहिए कि हम साधारण प्रजा वर्ग के देशी लोग नहीं हैं बल्कि हम तो देशी जन साधारण से अलग सुविशिष्ट लोग हैं। जैसे कुछ लोग 'धर्मान्तरण' करवाते हैं, उसी प्रकार आज की शिक्षा 'वर्गांतरण', 'भाषांतरण' तथा 'सांस्कृतिक अंतरण' कराती है और सारे देश में शिक्षा का लक्ष्य, शिक्षा का पुरस्कार यही माना जाता है, शिक्षा की भूमिका यही मानी जाती है। जो माता पिता अपने बच्चों को स्कूलों में नहीं भेज पाते हैं, वे भी शिक्षा की इस अवधारणा से मतभेद नहीं रखते, वे भी इस अवधारणा को चुनौती नहीं देते। वे भी बस चुपचाप अपनी मजबूरी को स्वीकार कर लेते हैं और अपने बच्चों को रोजी रोटी का जुगाड़ कराने में अपना सहायक बनाते हुए उन्हें स्कूलों से दूर रखते हैं।

सारांश यह है कि एक तरफ तो विशाल शासन तंत्र का शिकंजा समस्त शिक्षा पर इतनी मजबूती से जकड़ा हुआ है कि उसमें तनिक सा भी संशोधन करके शिक्षा के क्षेत्र में नये प्रयोग करना अत्यंत दुष्कर हो चुका है और दूसरी तरफ पूरे देश की जनता ने मौन रूप से शिक्षा के वर्तमान ढांचे को ही इतनी मान्यता दे रखी है कि स्कूल के वर्तमान ढर्रे में परिवर्तन करके स्कूल चलाना लगभग असंभव हो गया है। सत्य तो यह है कि ब्रिटिश राज में भी तथा देशी रियासतों में भी शिक्षा के क्षेत्र में स्वतंत्र एवं सुधारवादी प्रयोग करने की जितनी छूट तथा सुविधा थी, उतनी ही छूट तथा सुविधा आज आजाद भारत में नहीं है। हमारी सरकारें इस प्रदूषित शिक्षा में सुधार की तरफ तो रत्ती भर भी ध्यान नहीं दे रही हैं, पर इस शैक्षिक प्रदूषण को फैलाने, तथा और भी फैलाते जाने में ही लगी हुई हैं। मैं इसे देश का महान दुर्भाग्य मानता हूं।

2. यह दोष मैकाले का नहीं है कि भारत में मैकालेवादी शिक्षा ही आज भी चल रही है।

मैकाले ने अथवा ब्रिटिश शासन ने बेशक ऐसी शिक्षा को भारत में स्थापित किया जो दैहिक श्रम से ग्लानि उत्पन्न करे, जो भारतवासियों की चमड़ी को यदि अंग्रेजों की चमड़ी जैसी गोरी नहीं भी बना सके तो कम से कम, मन वचन और कर्म से भारत के निवासियों को अंग्रेज बना ही दें। अंग्रेजों ने

शिक्षा के द्वारा भारत में अंग्रेजियत फैलाने का इरादा गोपनीय भी नहीं रखा था। यह उनकी ईमानदारी थी। इसके अलावा अंग्रेज लोग एक और बात भी प्रशंसनीय थी। वह प्रशंसनीय बात यह थी कि उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा, न उन्होंने ऐसा माना कि जिस अंग्रेजी परस्त तथा अंग्रेज परस्त शिक्षा की वे स्थापना कर रहे हैं, वही शिक्षा भारतीय जनता की सार्वजनीन और अनिवार्य शिक्षा बनाई जा सकती है, या बनाई जानी चाहिए। समस्त भारतीय जनता को अंग्रेज़ियत में ढालने की बदनीयत तो अंग्रेजों की भी नहीं थी। वे तो कुछ गिनती के लोगों को ही अपनी अंग्रेज़ियत वाली शिक्षा देना चाहते थे ताकि उन्हें भारत में ही ऐसी नौकरशाही की उपलब्धि हो जाय तो ब्रिटिश राज के लिए भारतीय स्तंभ या भारतीय शासन तंत्र का काम दे सके। तो यदि आज आजाद भारत में भी वही मैकालेवादी शिक्षा न केवल क़ायम रखी जा रही है बल्कि सार्वजनीन बनाई जा रही हे तो उसके लिए हम न तो मैकाले को और न अंग्रेजों को भी कोई भी दोष दे सकते हैं! अंग्रेजों ने तो नहीं कहा और न उन्होंने यह माना था कि ब्रिटिश शासन की समाप्ति तथा आजादी की प्राप्ति के बावजूद भारत अपनी शिक्षा प्रणाली को मैकालेवादी बेड़ियों में ही जकड़े रखेगा तथा इसी शिक्षा को अनिवार्य सार्वजनीन शिक्षा बनाने की भी कोशिश करेगा। तो अंग्रेजों के जाने के बाद भी शिक्षा प्रणाली वही क़ायम रही तथा वही फैलाई जा रही है जो विदेशी हुकूमत के लिए अनुकूल थी एवं जो स्वाधीन भारत के लिए अनुकूल नहीं है।

3. यह दोष गांधी जी का भी नहीं था कि देश में आज भी मैकालेवादी शिक्षा ही चल रही है।

जिस महात्मा गांधी ने अपने अहिंसक सत्याग्रह की युद्ध विद्या से भारत को आजादी दिलाई थी, हम उस गांधी को भी इस बात के लिए दोष नहीं दे सकते कि देश तो आजाद हुआ पर गुलामी के ज़माने की मैकालेवादी शिक्षा से देश को आज तक आजादी नहीं मिली। आजादी तो मिल कर रहेगी, ऐसा मानकर महात्मा गांधी ने तो आजादी मिलने से दस वर्ष पूर्व ही देश के प्रत्येक नागरिक की आधार भूत तालीमी खुराक का स्वरूप बता दिया था। उच्चतर शिक्षा तो कुछ भी हो, पर प्रत्येक नागरिक की अनिवार्य और न्यूनतम आवश्यक (यानी बुनियादी) तालीम क्या होनी चाहिए यह उन्होंने स्पष्ट बता दिया था तथा सन् 1940 से पूर्व उसे पूरे देश में लागू भी करवा दिया था।

सौभाग्य से उदयपुर की विद्याभवन नामक शिक्षा संस्था ने मुझे सन् 1941 से सन् 1955 तक इस बुनियादी शिक्षा का प्रत्यक्ष काम करने का भी, तथा जगह-जगह से उसका सबक सीखने का भी सुअवसर दिया था। तो डा. जाकिर हुसैन, संत विनोबा भावे, महात्मा गांधी, नाना भाई भट्ट जैसे महानुभवों से भी मेरा संपर्क हुआ तथा उनसे भी मैंने कुछ सीखा। इसके साथ ही डेनमार्क में लोक शिक्षा के लिए प्रसिद्ध 'फोक हाई स्कूल सिस्टम' को देखने तथा समझने का अवसर भी मुझे मिला। तो अपने अनुभव से मैंने महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित बुनियादी शिक्षा की जो विशेषताएं समझीं मैं उनका उल्लेख यहां करना चाहता हूं।

4. भारत में शिक्षा को वस्तुतः सर्वसुलभ बनाने

के लिए बुनियादी शिक्षा से अंग्रेजी को बाहर रखा गया और छात्र की मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया गया।

मैकालेवादी शिक्षा में और गांधीवादी बुनियादी शिक्षा के बीच पहला फर्क यह था कि इस बुनियादी शिक्षा की जो सात वर्षों की अवधि निर्धारित की गई थी, उसको अंग्रेजी भाषा की पढ़ाई से मुक्त कर दिया गया था। आज तो कितने ही रवानगी विद्यालय नर्सरी स्कूल से ही अंग्रेजी की शिक्षा शुरू करते हैं। कितने ही स्कूल ऐसे भी हैं जहां हिंदी में बोलने पर विद्यार्थियों को दंडित भी किया जाता है। और, जो राजकीय स्कूल हैं, उनमें भी कक्षा 3 से ही अंग्रेजी की शिक्षा शुरू हो जाती है। इस स्थिति पर यदि गहराई से विचार किया जाए तो सार तो यह निकलता है कि भारत में शिक्षा तभी सार्वजनीन हो सकेगी जब कि अंग्रेजी का ज्ञान तथा अंग्रेजी का उपयोग भी सार्वजनीन हो जाए। भारत के सौ करोड़ लोगों को यदि शिक्षित होना है तो इन सौ ही करोड़ लोगों को अंग्रेजी सीखनी होगी। "अंग्रेजी तथा शिक्षा पर्यायवाची हैं, अंग्रेजी के बिना शिक्षा संभव ही नहीं है।" इस मान्यता पर आज भारत में कॉन्वेंट तथा रवानगी स्कूलों के साथ-साथ हमारे सरकारी स्कूल भी चलाए जा रहे हैं। तो इसके विरुद्ध बुनियादी अथवा गांधीवादी शिक्षा का सिद्धांत यह है कि एक भारतीय नागरिक की जो मौलिक या आधारभूत प्राथमिक नागरिक शिक्षा है, उस शिक्षा को अंग्रेजी के अध्ययन अथवा अभ्यास के बोझ से मुक्त रखा जाना चाहिए। बुनियादी शिक्षा की मान्यता है कि अंग्रेजी भाषा का ज्ञान देश की शत प्रतिशत जनता को नहीं चाहिए। पर कॉन्वेंट स्कूलों के साथ-साथ आज हमारी सरकारें भी मानती हैं कि अंग्रेजी की शिक्षा कक्षा 3 से अवश्य शुरू हो जानी चाहिए। यानी हमारी सरकारें मानती हैं कि हर पढ़े-लिखे भारतीय को अंग्रेजी तो आनी ही चाहिए यानी सरकारें यह मानती हैं कि यदि अंग्रेजी नहीं तो शिक्षा ही नहीं। तो सहज ही ये प्रश्न उठता है कि हमारी सरकारें शिक्षा को सार्वजनीन बनाने के इरादे से और शिक्षा को सार्वजनीन बनाने की संविधान की धारा 45 की घोषणा में झूठी तथा बेईमान या धोखेबाज है या नहीं है!! मूल प्रश्न यह है कि क्या अंग्रेजी भाषा का ज्ञान सार्वजनीन बनाना ज़रूरी है और क्या भारत में अंग्रेजी के ज्ञान को सार्वजनीन बनाना संभव है?? जो लोग या जो सरकार यह कहती है कि भारत में शिक्षा को सार्वजनीन तो बनाना है, पर शिक्षा को अंग्रेजी से मुक्ति हरगिज़ भी नहीं देनी है, वे लोग तथा वे सरकारें बेईमान तथा धोखेबाज़ हैं। संविधान की धारा 45 ने भविष्यवाणी की थी कि संविधान के लागू होने के बाद केवल 10 वर्षों में शिक्षा सार्वजनीन हो जाएगी। पर आज 50 वर्ष बीत जाने पर भी शिक्षा सार्वजनीन होने से कोसों दूर है। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि सार्वजनीन शिक्षा के पांवों में अंग्रेजी भाषा की बेड़ी पड़ी हुई है जिसे काट कर शिक्षा के पांवों को मुक्त करने के लिए हमारे शिक्षाविद्, हमारे समाज-सुधारक हमारे माता पिता तथा हमारी सरकारें बिलकुल तैयार नहीं हैं। घोषणाएं तो की जाती हैं और ढोल तो पीटे जाते हैं शिक्षा को

भिक्षा के रूप में प्राप्त करके बहाया जाता है—शिक्षा को फैलाने के नाम पर। लेकिन शिक्षा के पांवों में पड़ी हुई अंग्रेजी की बेड़ी काटी नहीं जाती। तो यह क्या है? क्या यह एक षड्यंत्र नहीं है, क्या यह एक दंभ नहीं है?

हम सुनते तथा पढ़ते हैं कि प्राचीन भारत में राजा महाराजा तथा उच्चवर्ण के लोग बिलकुल स्पष्ट रूप से कह देते थे कि शूद्रों को पढ़ने-लिखने की तथा शास्त्र-वाचन की छूट नहीं मिलेगी और हम उन राजा महाराजाओं तथा उन उच्च वर्ण के लोगों की घोर निंदा भी करते हैं तो यह निंदा वाजिब है क्योंकि वे लोग तो निंदनीय ही थे। पर एक बात में तो वे लोग आज की सरकारों तथा आज के कुलीन वर्गीय लोगों से बेहतर थे ही क्योंकि वे धोखेबाज तथा पाखंडी नहीं थे। वे बेशक भेदभाव रखते थे, पर उनका भेदभाव प्रच्छन्न नहीं था, स्पष्ट था। कहावत है कि *न तो नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी।* तो इस कहावत के अनुसार न तो भारत के शत प्रतिशत लोग अंग्रेजीदां बनेंगे और न भारत के शत प्रतिशत लोग स्कूली कसौटी पर शिक्षित के रूप में खरे उतरेंगे।

महात्मा गांधी ने कहा था कि बुनियादी शिक्षा का माध्यम छात्र की अपनी मातृभाषा होगी यानी शिक्षा प्राप्ति के लिए छात्र की उसी भाषा का प्रयोग होगा जिसे छात्र ने अपने घर में अपने माता पिता से सीख लिया है तथा जिसमें वह सहज रूप से ग्रहण भी कर सकता है तथा जिसमें वह सहज रूप से अपने को अभिव्यक्त भी कर सकता है। गांधी की यह बात नहीं मानी गयी क्योंकि इसे मानने पर तो शिक्षा वास्तव में सहज हो जाती तथा वास्तव में फैलने लग जाती जो हमारी छिपी हुई नीयत के विपरीत होता।

5. छात्र की मातृभाषा को शिक्षा के अभ्यास क्रम से निष्कासित करने का मैकालेवादी लक्ष्य था—छात्रों में अपनी भाषा एवं संस्कृति के प्रति हीनता की भावना पैदा करना।

जब छात्रों की सहज मातृभाषा की शिक्षालय में उपेक्षा होती है या उस सहज मातृभाषा को शिक्षा के अभ्यास क्रम से बाहर रखा जाता है अथवा उसे शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जाता तो इसके फलस्वरूप छात्रों में अचेतन रूप से अपनी मातृभाषा के प्रति एक हीनता की भावना अवश्य पैदा हो जाएगी। इसके साथ ही एक महत्वपूर्ण बात और भी है। वह बात यह है कि मनुष्य की सांस्कृतिक विरासत का अनमोल खजाना भी मनुष्य की मातृभाषा में ही सुरक्षित होता है। तो जब छात्रों की मातृभाषा शिक्षा के अभ्यास क्रम से बाहर धकेल दी जाती है तो उस मातृभाषा में जो गीत हैं, मुहावरे हैं, कहानियां हैं, वे सब भी बाहर धकेल दिए जाते हैं। इसके साथ-साथ छात्र की जो शक्ति या सामर्थ्य अपनी मातृभाषा में आत्माभिव्यक्ति की है यानी उसमें बोलने की, लिखने की, भाषण देने की या कविता करने की है, वह अभिव्यक्ति की शक्ति तथा सुविधा छात्र से छीन ली जाती है। नतीजा बस यही होता है कि छात्र अपने प्रति, अपनी भाषा के प्रति तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति एक हीनता की भावना से ग्रस्त हो जाता है जो कि मैकालेवादी शिक्षा का अभीष्ट लक्ष्य था। इस खोटे लक्ष्य में आज की

शिक्षा सफल है।

6. बुनियादी शिक्षा की विषयवस्तु या उसके अभ्यास क्रम में उत्पादक हस्तशिल्प अथवा उद्यम को केंद्रीय स्थान तथा सर्वाधिक महत्व दिया गया जिसके ठोस कारण समझने योग्य हैं।

ऊपर हमने यह समझा था कि सरलता से फैल सकने वाली शिक्षा को फैलने से रोकने के लिए मैकालेवादी शिक्षा में अंग्रेजी भाषा को अनिवार्य बना दिया गया और कुछ संस्थाओं ने तो अंग्रेजी को केवल एक अतिरिक्त विषय के रूप में ही अभ्यास क्रम में स्थान नहीं दिया बल्कि सभी विषयों की शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी को बना दिया ताकि शिक्षा का फैलाव और भी ज्यादा मुश्किल और बाधाग्रस्त हो जाए।

पर शिक्षा का फैलाव रोककर उसे वर्ग विशेष तक ही सीमित रखने का केवल यह (अंग्रेजी की अनिवार्यता वाला) एक षड्यंत्र ही नहीं रचा गया था, बल्कि एक षड्यंत्र शिक्षा का फैलाव रोकने और शिक्षा को कठिन एवं दुःसाध्य बना देने के लिए मैकालेवादी शिक्षा में और भी किया गया था और वह षड्यंत्र यह था कि शिक्षा की विषयवस्तु या उसके अभ्यास क्रम में से *उत्पादक श्रमोद्यम* को बहिष्कृत कर दिया गया था। षड्यंत्र यहीं तक सीमित नहीं रखा गया कि उत्पादक श्रमोद्यम को शिक्षा से बहिष्कृत मात्र कर दिया जाए बल्कि षड्यंत्र यहां तक आगे बढ़ाया गया कि *उत्पादक श्रमोद्यम* को शिक्षा का बैरी या दुश्मन बताकर उसके प्रति समाज में तथा छात्रों में घृणा या ग्लानि के भाव भी भरे गये और श्रमिक जीवन को हीन तथा दुर्भाग्यपूर्ण बताया गया।

कहना नहीं होगा कि मैकालेवादी शिक्षा के ये दोनों षड्यंत्र सफल हुए हैं और उसके फलस्वरूप देश में चारों ओर मातृभाषा कुचली जा रही है, त्यागी जा रही है और अंग्रेजी अपनाई जा रही है तथा पूजी जा रही है और इसके साथ 'नौकरी' को अथवा ख़ालिस बुद्धिजीवी होने की स्थिति को तो प्रतिष्ठा की बात माना जा रहा है और उत्पादक दैहिक श्रमोद्यम को हीन तथा दुर्भाग्यपूर्ण माना जा रहा है।

तो महात्मा गांधी ने मैकालेवादी शिक्षा की इन दोनों गलतियों को अथवा मैकालेवादी शिक्षा के इन दोनों अपराधों अथवा उसके इन दोनों पापों, अथवा उसके इन दोनों पापों, अथवा उसके इन दोनों षड्यंत्रों से बुनियादी शिक्षा को मुक्त किया। इन दो षड्यंत्रों में से अंग्रेजी के प्रभुत्व वाले षड्यंत्र का वर्णन तो मैं ऊपर कर चुका हूं। अतः अब मैं यह बताने का प्रयत्न करूंगा कि शिक्षा के अभ्यास क्रम से उत्पादक दैहिक श्रमोद्यम के बहिष्कार के पीछे मैकालेवादी शिक्षा का षड्यंत्र क्या था जो कि आज तक दृढ़तापूर्वक चालू है।

7. मानव का मूल तथा वास्तविक गुरु या शिक्षक तो कर्म ही है, और ये शिक्षक तथा ये किताबें तो शिक्षा के उपकरण या सहायक मात्र हैं। शिक्षा को कर्म से काटना तो वृक्ष को उसकी जड़ से काटने के बराबर है।

हमें अपने से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि मानव जाति में जो भी विकास ज्ञान अथवा विज्ञान का आज तक हुआ है, अथवा जो भी विकास कला या

आज तक हुआ है, अथवा जो भी विकास कला या शिल्प का हुआ है, उसका मूल कारण क्या है और उसके मूल स्रोत कहां हैं? तो जवाब जो हमको मिलेगा वह यही होगा कि प्रकृति ने मानव जीवन ऐसा बनाया कि उसके निर्वाह के लिए कर्म में प्रवृत्त होना आदिकाल से ही अनिवार्य था। तो जब मनुष्य कर्म में प्रवृत्त हुआ तो उसके सामने कठिनाइयां आईं, समस्याएं आईं, प्रश्न उठे, निराशा तथा विफलता भी आई और आशा तथा सफलता भी आई, हर्ष भी आया, विषाद भी आया, क्रोध भी आया शांति भी आई। तो इन परिस्थितियों ने मनुष्य की शिक्षा ही नहीं की, बल्कि उसके ज्ञान-विज्ञान का विकास भी किया, उसमें प्रश्न, समस्याएं तथा जिज्ञासा पैदा की यानी ज्ञान-विज्ञान तथा कुछ नई खोज, कुछ नये आविष्कार की आवश्यकता पैदा की। तो मानव जाति का मूल, वास्तविक तथा मुख्य गुरु या शिक्षक तो कर्म है। शिक्षक एवं पुस्तकें तो शिक्षा के सहायक उपकरण मात्र हैं। हमारे प्राचीन गुरुकुल कर्माधारित शिक्षालय थे। खेती, गोपालन, ईंधन बटोरना, यह सब गुरुकुल में चलता रहता था और इस कर्म के प्रसाद के रूप में विद्यार्थी न केवल शिक्षित, बल्कि संस्कारित भी बनते थे। तो शिक्षा एक सहज एवं सीधी-सादी सरल प्रक्रिया थी। पर मैकालेवादी शिक्षा को तो शिक्षा को जटिल, कठिन, भारी वजनदार तथा फैलने की क्षमता नहीं रखने वाली शिक्षा बना देना था। तो उसने शिक्षा को उसके सहज स्रोत तथा उसके मूल सहज वाहन से काट डाला ताकि शिक्षा में *सरलतापूर्वक* आगे बहने की *तरलता* न रहे और वह स्कूलों में, किताबों में, मास्टर लोगों में तथा परीक्षाओं एवं प्रमाणपत्रों में कैद हो जाए। शिशु को जन्म देने वाली मां के स्तनों में प्रकृति ने स्वतः दूध दे दिया ताकि शिशु को उसकी खुराक बिलकुल सुलभ रहे। पर मैकालेवाद ने ऐसी परंपरा शुरू कर दी कि मां के स्तनों का दूध उसके शिशु के लिए वर्जित हो जाए तथा शिशु को सिंथेटिक दूध की बोतल पर पाला जाए। मनुष्य तो शिशु है और कर्म उस शिशु की मां का दूध से भरा हुआ स्तन है। तो जो शिक्षाविद् मात्र को कर्म से काट कर उसकी शिक्षा करना चाहते हैं वे शिक्षा को उसकी सहजता एवं सरलता से वंचित करने के अपराधी हैं। मैकाले ने यह अपराध अपने जातीय साम्राज्य के लाभ के लिए किया था। पर आजाद भारत में वह अपराध जारी क्यों है, समझ में नहीं आता।

मुख्य बात जो समझने की है वह यह है कि शिक्षा तो बस वही है जो मनुष्य को ठीक से काम करना सिखाए। गीता में कृष्ण ने कहा था—"योगः कर्मसु कौशलम्" अर्थात् "कर्म कैसे किया जाए, किस चतुराई किस निपुणता, किस तरकीब से किया जाए (ताकि वह बंधनकारी न हो) उस तरकीब का नाम योग है। तो शिक्षा भी कर्म-कौशल ही है। अब जिस शिक्षा में कर्म ही नहीं, उस शिक्षा को शिक्षा कैसे माना जाए, वह शिक्षा संभव ही कैसे होगी? जब भूख एवं पाचनशक्ति हो तो तभी भोजन की सार्थकता है। तो इसी प्रकार जब प्रश्न, जिज्ञासा, संशय या कठिनाई सामने हो तभी शिक्षा की सार्थकता है। तभी शिक्षा ली जा सकती है और तभी शिक्षा को पचाया जा सकता है। यदि तैरना सीखना है तो पानी में उतरना होगा। इसी प्रकार, यदि शिक्षित

होना हो तो पहले प्रश्नों में, जिज्ञासा में, कठिनाई में या संशय में खुद को पड़ना होगा और उसके लिए कर्म में प्रवृत्ति आवश्यक है। आज की शिक्षा छात्र के प्रश्नों का उत्तर बनकर नहीं आती, उनकी जिज्ञासा का समाधान बनकर नहीं आती, उनके संशय का निवारण बनकर नहीं आती। वह तो उन पर जबरन थोपी जाती है। भोजन तभी पचता तथा सार्थक होता है, जब पेट में भूख हो और ज्ञान तभी सार्थक एवं सुपाच्य होता है जब वह किसी प्रश्न या जिज्ञासा के उठने पर दिया जाए। कृष्ण तथा अर्जुन तो साले बहनोई के रिश्ते से बंधे हुए बहुत पुराने मित्र थे। पर गीता का ज्ञान तो कृष्ण ने अर्जुन को तब ही दिया जब वह 'कुरुक्षेत्र' (अर्थात् कर्मक्षेत्र) में संशयग्रस्त होकर जिज्ञासु एवं प्रश्नातुर बन गया। तो जो स्कूल कुरुक्षेत्र यानी कर्मक्षेत्र बनने से ही परहेज करता हो उसमें यह संशयग्रस्तता, यह जिज्ञासा और यह प्रश्नातुरता कैसे आ सकती है कि जिससे ज्ञान के आदान-प्रदान की खरी भूमिका पैदा हो? तो महात्मा गांधी ने विद्यालयों को ऐसा कुरुक्षेत्र अथवा कर्मक्षेत्र बनाने की योजना देश को दी थी कि जिससे वे विद्यालय शिक्षा तथा ज्ञान के आदान-प्रदान को सहज-स्वाभाविक एवं सरल बना सकें और शिक्षा एक निर्जीव कवायद या व्यायाम रहने के बजाय जीवंत शिक्षा बन जाए।

8. भारत की वर्तमान मैकालेवादी शिक्षा जो या तो खरीद या फिर खैरात पर आश्रित है समाज में धनिक-निर्धन के वर्ग भेद को बाल्यकाल से ही पुष्ट करने वाली 'द्रोणवादी शिक्षा' है जब कि गांधी द्वारा प्रतिपादित बुनियादी शिक्षा उत्पादक श्रम पर आश्रित होने से बाल्यकाल में ही वर्ग भेद को मिटानेवाली 'सांदीपनिवादी शिक्षा' की योजना थी।

मैकालेवादी शिक्षा जो आज देश में धड़ल्ले से चल रही है, या तो सरकारी धन पर पूर्णतया आश्रित है या कॉन्वेंट स्कूलों के मामले में तो सर्वथा छात्र के माता-पिता की जेब के धन पर आश्रित है। यानी सरकारी शिक्षा तो विद्यार्थियों को एक खैरात या भिक्षा के रूप में मिल रही है और इंग्लिश मीडियम के कॉन्वेंट स्कूलों में तो उसकी खरीद की जा रही है। यानी आज शिक्षा प्राप्ति के दो उपाय हैं जिनमें से एक उपाय है *खैरात* और दूसरा उपाय है *खरीद*। खैरात में शिक्षा प्राप्त करना स्वयं की कमजोरी का द्योतक है और शिक्षा को खरीद करके लेना खरीददारी की ताकत का द्योतक है। यानी आज की प्रचलित शिक्षा के मूल में ही वर्गभेद को सामाजिक एवं राजनीतिक मान्यता मिली हुई है। धनिक और शक्तिशाली लोगों के बच्चे अपने बाल्यकाल से ही देश के सामान्य जनों एवं निर्धनों के बच्चों से अलग-थलग पड़ जाएंगे। देश के बच्चों को अपने बाल्यकाल में ही विशिष्ट वर्गीय होने का अथवा सामान्य वर्गीय होने का भेद स्वीकार करके प्रौढ़ होना होगा। मैंने इस स्थिति को शिक्षा में *द्रोणवाद* का नाम दिया है क्योंकि द्रोणाचार्य की शिक्षा में राजपरिवार के शिष्यों के साथ वनवासी शिष्यों (यानी एकलव्यों) की शिक्षा आज भी नहीं हो सकती है। तो आज की जो भी शिक्षा है वह द्रोणवाद पर आश्रित है जिसमें सामान्य जनता एवं विशिष्ट वर्ग का विभाजन मानव की शिशु अवस्था से ही शुरू हो जाता है और पूरी शिक्षा के दौरान

यह विभाजन ठोस और पक्का हो जाता है। द्रोणाचार्य एक ऐसा शिक्षक था जो उस समय की सत्ता का गुलाम बन चुका था। इसीलिए भरी सभा में द्रोपदी के चीरहरण पर वह कुछ भी नहीं बोल सका और इसीलिए कौरवों के अधर्म-युद्ध में, वह पांडवों के धर्मपक्ष के विरुद्ध भी लड़ा। धन से खरीदे हुए शिक्षक का चरित्र कितना दुर्दशाग्रस्त हो सकता है, उसकी एक ज्वलंत मिसाल है महाभारत काल का द्रोणाचार्य। कारण यह था कि द्रोणाचार्य के धनुर्विद्यालय में उत्पादक देह श्रम से प्राप्त होने वाला स्वावलंबल या उससे प्राप्त होने वाली स्वायत्तता का तत्व बिलकुल नहीं था। द्रोणाचार्य पूर्ण रूपेण सत्ता का वेतन भोगी चाकर था जैसा कि मैकालेवादी सरकारी स्कूल का टीचर आज भी है।

पर महाभारत काल में ही एक दूसरी मिसाल भी है, गुरु अथवा आचार्य सांदीपनि की। यह आचार्य किसी राजवंश का वेतनभोगी टीचर नहीं था। इसके गुरुकुल में महाधनिक एवं सुसंपन्न कृष्ण के साथ ही महादरिद्र एवं दीन सुदामा भी शिक्षा पाता था और दोनों को एक साथ उत्पादक श्रम सेवा करनी पड़ती थी। यानी उत्पादक श्रम सेवा को सांदीपनि के शिक्षालय में शिक्षा के लिए बाधक नहीं माना जाता था, श्रम को शिक्षा में वर्जित और घृणित नहीं माना जाता था। सांदीपनि की शिक्षा में विशिष्ट कुलीन वर्ग तथा सामान्य जनता वर्ग के विद्यार्थियों के बीच कोई भेदभाव नहीं था। तो नतीजा यह था कि कृष्ण ने सुदामा को अपनी प्रौढ़ावस्था में गले लगाया। मतलब यह कि जब शिक्षालय में धनिक एवं निर्धन बच्चे एक साथ उत्पादक श्रम सेवा करते हुए शिक्षा पाने लगेंगे तभी समाज में ऐसे शिक्षित लोग पैदा होंगे जो ईमान पर दृढ़ रहने की क्षमता रखेंगे और समाज से शोषक-शोषित का वर्ग भेद मिटा सकेंगे।

9. जीवन निर्वाह की समस्या का भय मिटाने वाली शिक्षा ही समाज को शोषक एवं शोषित के वर्गभेद से मुक्त कर सकती है।

तो जब शिक्षा के दौरान ही विद्यार्थी उत्पादक श्रमपूर्ण उद्यम में लग जाता है तो उसके मन में अपने जीवन की आजीविका अथवा अपने जीवन की आजीविका अथवा अपने जीवन के निर्वाह की चिंता या उसका भय मिट जाता है। उत्पादक श्रमपूर्ण उद्यम में जो अभ्यस्त हैं उस व्यक्ति को इस बात का आत्मविश्वास हो जाएगा कि उसके हाथों में कमाने का बल भी है और कौशल भी है और उसे न तो बेरोजगारी का भय है और न किसी कंपनी, संस्था या सरकारी बॉस या साहिब की गुलामी में रहने की कोई जरूरत है और यदि किसी जगह नौकरी कर भी ली तो अपनी अंतरात्मा या अपने जमीर या अपने कांशंस को गिरवी रखकर या उसे बेचकर कोई नौकरी नहीं करनी है। "यदि नौकरी छूट गई तो क्या होगा, यदि नौकरी नहीं मिली तो क्या होगा, यदि कल के लिए धन-संग्रह नहीं करेंगे तो क्या होगा, यदि दूसरे का शोषण नहीं करेंगे तो हमारे जीवन के ऊंचे स्तर को कैसे बचाया जा सकेगा, और यदि हमने अपने आपको अपने बॉस के शोषण का शिकार नहीं होने दिया तो हमारा क्या होगा," इस प्रकार के जिस भय से आज का तथाकथित शिक्षित वर्ग बुरी तरह ग्रस्त है, उसका

मूल कारण है उसकी बाल्यकालीन उत्पादक श्रम की अनभुवहीनता तथा उसका अपने जीवन निर्वाह का तथा अपने जीवन के ऊंचे स्टैंडर्ड का भय। शोषण और भ्रष्टाचार जो आज के समाज का मुख्य रोग है उसका मूल कारण यह है कि शोषक भी स्वावलंबन सिखाने वाली उत्पादक श्रमपूर्ण शिक्षा से वंचित रहा है। और शोषित भी स्वावलंबन सिखाने वाली उत्पादक श्रमपूर्ण शिक्षा से वंचित रहा है। फलतः जीवन-निर्वाह की दृष्टि से दोनों ही भयभीत हैं। शोषक को इस बात का भय है कि शोषण किये बिना उसका निर्वाह नहीं होगा और शोषित व्यक्ति को इस बात का भय है कि शोषित होने से इंकार करने पर उसका निर्वाह नहीं होगा।

10. यदि राष्ट्र की शिक्षा नीति ही समाज में शोषक-शोषित के वर्गभेद को पुष्ट करती रहे तो राष्ट्र की राजनीति या न्यायनीति मात्र से वह भेद नहीं मिट सकता।

तो प्रश्न यह है कि जीवन के सम्यक् निर्वाह का भय या उसकी चिंता से शोषक को भी मुक्त किया जाए और शोषित को भी मुक्त किया जाए। इस समस्या का इलाज अकेली राजनीति में नहीं ढूंढा जा सकता और न अकेली अदालती न्याय व्यवस्था में ही इस समस्या का इलाज ढूंढा जा सकता है। जब शिक्षा ही वर्गभेद तथा शोषण को मान्यता देकर चलती हो तो केवल ऊपर की राजनीति और न्याय व्यवस्था में समाज में शोषण एवं वर्गभेद का इलाज नहीं हो सकता। *समाज रूपी वृक्ष की जड़ तो उस समाज की शिक्षानीति में रहती है। यदि शिक्षानीति में वर्गभेद एवं शोषणवाद का संरक्षण जारी रहे तो समाज को वर्गभेद, भ्रष्टाचार, शोषण तथा नैतिक पतन से बचाया नहीं जा सकता।* आजादी के बाद भारत के साथ जो त्रासदी घटी है वह यही है कि भारत की नई पीढ़ी को उसकी तालीमी अथवा शैक्षिक घुट्टी में ही शोषक एवं शोषित का वर्गभेद घोट कर पिलाया जाता रहा है और नतीजा यह है कि आज के भारतीय समाज का न्यायिक एवं नैतिक स्तर आजादी के पहले के भारतीय समाज के न्यायिक एवं नैतिक स्तर से निम्न एवं कमजोर हो चुका है। आज न तो शोषण करने वालों में कोई हया या मर्यादा की भावना बची है और न शोषण का शिकार होने वालों में कोई विद्रोह शक्ति बची है। इसका कारण है ब्रिटिश गुलामी के समय वाली मैकालेवादी शिक्षा को न केवल कायम रखना बल्कि उसका गुणगान करते हुए उसे ही अधिकाधिक फैलाना।

11. देश की वर्तमान गंभीर आर्थिक दुर्दशा का मूल कारण—स्वाधीन हो जाने के बाद ब्रिटिश गुलामी वाली शिक्षा को ही न केवल कायम रखना बल्कि उसका ढोल पीटकर उसका अंधाधुंध विस्तार करना।

जब अंग्रेज लोगों ने भारत की आजादी को स्वीकार करके भारत को छोड़ा था, तब भारतवर्ष न केवल विदेशी ऋणों से सर्वथा मुक्त था बल्कि इंग्लैंड पर भारत का कुछ चढ़ा हुआ कर्जा था और इंग्लैंड ने भारत का वह कर्जा उतार भी दिया। पर आज भारतवर्ष पर जो विदेशी एवं स्वदेशी ऋणों का भार है वह अत्यंत अधिक है। हालत यह है कि उस ऋण का ब्याज चुकाने के लिए भी अधिक ऋण लेना पड़ता है। यही स्थिति हमारी केंद्रीय सरकार की एवं हमारी राज्य सरकारों की भी है। हमारे

संविधान में राज्य सरकारों को शराववंदी करने को कह रखा है। इसके बावजूद राज्य सरकारें शराब के ठेकों की नीलामी से करोड़ों रुपयों की आय करके अपना खर्चा चलाती हैं। संविधान कहता है कि सरकारें सरकारी खर्चे से ही शिक्षा को अनिवार्य, मुफ़्त एवं सार्वजनीन कर डालेंगी और यह कार्य दस वर्षों में ही हो जाना था। पर यह 50 वर्षों में भी पूरा नहीं हुआ। इसके लिए सरकार के पास स्वदेशी पैसा भी नहीं है। तो स्थिति यह है कि अनेक विदेशी सरकारों तथा विदेशी संस्थानों से करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष दानानुदान के रूप में प्राप्त हो रहा है जिसका प्रयोजन भारत में शिक्षा एवं साक्षरता को फैलाना है। पर इसके बावजूद भारत में न शिक्षा सार्वजनीन हो रही है और न साक्षरता ही सार्वजनीन हो पाई है। तो देश की यह दयनीय एवं दिवाला निकलने जैसी आर्थिक स्थिति आख़िर क्यों हुई तथा कैसे हुई, यह बात केवल अर्थशास्त्रियों के लिए ही विचारणीय नहीं है, बल्कि वह तो शिक्षाकर्मियों के लिए भी विचारणीय है। मेरा अपना विचार यह है कि देश की इस आर्थिक बदहाली अथवा दुर्दशा का मूल कारण आर्थिक दृष्टि से सर्वथा अनुत्पादक एवं, कोरा व्यय ही कराने वाली, अथवा केवल खर्चा ही खाने वाली हमारी मैकालेवादी शिक्षा प्रणाली का न केवल जारी रहना है, बल्कि उसका अंधा विस्तार किया जाना भी है।

आज की शिक्षा के माध्यम से सरकार किस प्रकार इस तथाकथित स्वाधीन राष्ट्र का आर्थिक दिवाला निकाल रही है, इसको समझना जरूरी है जिसका प्रयत्न मैं यहां कर रहा हूं।

देश के करोड़ों बच्चे जिनके पिताजी का अपना निजी व्यवसाय अच्छी तरह चल रहा था और जिस पैतृक व्यवसाय में वे बच्चे भी आराम से खप सकते थे, आज की मैकालेवादी शिक्षा पाकर उस शिक्षा के अभाव से अपने पैतृक व्यवसाय को अपनाने में अपनी हेठी मानकर किसी न किसी नौकरी के लिए लालायित हो गए। सिद्धांत यह चल निकला कि यदि इतना पढ़ लिखकर भी बाप का व्यवसाय ही अपनाया तो इतनी पढ़ाई का फायदा क्या हुआ! तो निजी व्यवसायों का त्याग और नौकरी का अनुराग पैदा करने में उसी शिक्षा का हाथ है जिस पर सरकारी खजाने के अरबों रुपये और परिवारों के भी अरबों रुपये खर्च किये जाते हैं। यानी देश में बेरोजगारी तथा नौकरी वृत्ति की बीमारी पैदा करने वाली शिक्षा में ही सरकार के तथा जनता के अरबों रुपये खर्च हो रहे हैं। यानी समस्या को पैदा करने में भी हम देश की अपार पूंजी लगा रहे हैं और उसके बाद उसी समस्या को हल करने के लिए हमारी सरकारें नये नये विभाग ही नहीं खोलती जाती है बल्कि जिस विभाग में पांच व्यक्तियों का भी काम नहीं है उस विभाग में दस पढ़े लिखे बेरोजगारों को काम पर लगा रही है तथा नौकरियां दे रही है। नतीजा यह है कि दफ्तरों का काम इसलिए बिगड़ रहा है कि दफ्तर में पांच व्यक्तियों का काम दस व्यक्तियों द्वारा किया जा रहा है। पर बात यहीं समाप्त नहीं होती। सरकारी कर्मचारी लोग लगभग 65 वर्ष की आयु तक भी, यद्यपि भली प्रकार काम कर सकते हैं, फिर भी उन्हें 58 वर्ष की अवस्था में ही सेवानिवृत्त किया जाता है

प्रकार काम कर सकते हैं, फिर भी उन्हें 58 वर्ष की अवस्था में ही सेवानिवृत्त किया जाता है और उनकी पेंशन, उनसे बिना कोई भी काम लिए, चालू हो जाती है। 58 वर्ष पर रिटायरमेंट इसलिए करना पड़ता है कि बेरोजगार नये युवावर्ग को भी तो नौकरी में खपना है। गत 50 वर्षों में यह गंभीर स्थिति लगातार क्रमिक रूप से बढ़ती ही चली गई है। यानी पहले तो गलत शिक्षा द्वारा श्रमजीवियों को बुद्धिजीवी बनने की तमन्ना पैदा करने में पैसा लगाओ और बाद में उन लोगों को बिना जरूरत भी नौकरियां देकर अपना काम भी बिगाड़ो और खर्चा भी बढ़ाओ तथा लोगों को जल्दी रिटायर करके उनसे बिना काम लिए ही उन्हें पेंशन देते रहो। तो ऐसी शिक्षा व्यवस्था तथा उसके ऐसे परिणामों से देश का दिवाला क्यों नहीं निकलेगा और देश कर्ज़दार होकर अपनी स्वाधीनता की जड़ों को खोखली क्यों नहीं करेगा। अब आज नतीजा यह है कि सरकारों के सामने एक ओर तो कर्मचारियों को छुट्टी देकर उनकी संख्या घटाने की भयंकर समस्या है और दूसरी अपने कर्मचारियों की नई-नई मांगों को लेकर होने वाली हड़तालों से निपटने की समस्या है। पर इस बात पर कोई ध्यान नहीं दे रहा है कि यह सारी समस्या ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा स्थापित गलत शिक्षा को, बिना संशोधन के, ज्यों का त्यों फैलाने का नतीजा है। ब्रिटिश सरकार के सामने तो यह समस्या इसलिए नहीं थी कि उसने इस शिक्षा को ज्यादा फैलाने पर ज़ोर नहीं दिया। उस ज़माने में इतनी सीमित संख्या में नवयुवक शिक्षा पाते थे कि वे नौकरियों में आसानी से खप जाते थे। तो सारी समस्या की जड़ यह है कि आजादी पा लेने के बाद तथा शिक्षा को सार्वजनीन बनाने के निर्णय तथा उसके प्रारंभ से पहले हमने गांधीजी के मत के अनुसार नौकरी-उन्मुख मैकालेवादी शिक्षा को तिलांजलि देकर बुनियादी शिक्षा को स्वीकार नहीं किया।

इसमें एक अन्य बात जो विचारणीय है वह यह है कि दैहिक श्रम से परहेज सिखाने वाली तथा नौकरी की लालसा जगाने वाली शिक्षा देने का काम जब सरकार ही खुद करती है तो ऐसी शिक्षा से निकलने वाले बेरोजगारों का एक छिपा हुआ अधिकार भी बन जाता है कि उन्हें सरकार ही नौकरी भी दे। सरकार भी किसी हद तक अपने इस दायित्व को स्वीकार करती है तथा सरकार के प्रबंध के तंत्र को बिना जरूरत के भी फैला फैलाकर इन पढ़े-लिखे बेरोजगारों को नौकरी में खपाती जाती है तथा फलस्वरूप अपना काम भी बिगाड़ती जाती है और दिवाला भी निकालती जाती है। ग़नीमत इस समय भी, यदि कुछ है तो यही है कि भारत की शत-प्रतिशत जनता ने तो इस मैकालेवादी शिक्षा को स्वीकार नहीं किया है। भारत में सामान्य तथा निर्धन जनता निरक्षर होते हुए भी इतनी मूर्ख नहीं है कि शत-प्रतिशत संख्या में वह इस गलत शिक्षा को स्वीकार कर ले। यदि शत-प्रतिशत लोग इसी शिक्षा में शिक्षित होकर सरकार से नौकरियां मांगते तो सरकार का तथा इस देश कि कितना बुरा हाल होता।

12. देश की नैतिक एवं चारित्रिक शक्ति की पुष्टि की दृष्टि से बुनियादी शिक्षा और मैकालेवादी शिक्षा की तुलना।

जब महात्मा गांधी ने बुनियादी शिक्षा की योजना को देश के सामने रख दिया तब उनसे एक प्रश्न

यह पूछा गया कि इस शिक्षा में धार्मिक शिक्षा को कोई भी स्थान क्यों नहीं दिया गया है! तो इसके उत्तर में गांधी जी ने यह बात समझाई थी कि बुनियादी शिक्षा में जो स्थान उत्पादक श्रमपूर्ण उद्यम एवं स्वावलंबन को दिया गया है, वह वास्तव में शिक्षा में धर्म ही का समावेश है। गांधी जी के इस उत्तर से हमें धर्म की एक ऐसी विशिष्ट परिभाषा या रूपरेखा प्राप्त होती है जो आम तौर पर समाज में पाई नहीं जाती। आम तौर पर धर्म को हम मंदिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों अथवा गुरुद्वारों से बंधा हुआ आचरण मानते हैं और धर्म का प्रश्न उठते ही हम हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन तथा बौद्ध इत्यादि समुदायों में विभक्त हो जाते हैं। पर मूलतः यह बंटवारा तो पंथों का, या संप्रदायों का है न कि धर्म का। मूलतः धर्म का अर्थ है 'निज दायित्व का निर्वाह' अर्थात् हम इस प्रकृति, इस समाज, या अपने परिवार या अपने विद्यालय या अपने मित्रों से जो कुछ भी प्राप्त करते हैं उसे अपने पर चढ़ा हुआ एक ऋण मानकर, उसे अपना 'दायित्व' मानकर उसका चुकारा करना होता है। सहायता, सहानुभूति एवं सहयोग की सहज प्राप्ति से ही हमारे जीवन का निर्वाह, उसका विकास तथा उसका रक्षण होता है तो जैसी प्राप्ति वैसा ही दायित्व निर्वाह भी होना चाहिए। बस मूल धर्म तो यही है।

हां, जब धर्म का संबंध पूजा पाठ, नमाज़ वगैरा से जोड़ा जाता है तो धर्म और धर्म के बीच भेद ज़रूर नज़र आने लगता है। पर मूलतः धर्म का तत्व यही है कि हमें जो भी सहायता सहयोग एवं सांत्वना प्राप्त हुई है उससे हम कृतज्ञता पूर्वक उऋण होने के लिए खुद भी सहायता, सहयोग तथा सांत्वना दूसरों को दें।

अब यदि शिक्षा का मूल कर्तव्य पूछा जाए तो उसका कर्तव्य मूलतः इतना ही है कि शिक्षा विद्यार्थी को उस पर चढ़े हुए ऋण या उपकार का बोध कराए, उसके लिए उसमें कृतज्ञता का एहसास पैदा करे तथा उसे उस ऋण से उऋण होने की योग्यता या कुशलता प्रदान करे तथा उसका प्रत्यक्ष अभ्यास भी कराए, न कि उसका कोरा उपदेश देकर ही रह जाए। तो बुनियादी शिक्षा के उत्पादक श्रमपूर्ण उद्यम को केंद्रीय स्थान दिया गया है वह 'प्राप्ति के साथ ही दायित्व' का प्रत्यक्ष एवं तत्काल अभ्यास है। गांधी के जीवन तथा गांधी के उपदेश में जो सबसे प्रमुख बात है, वह यह है कि हमारा साध्य तो शुद्ध होना ही चाहिए, परंतु उसे प्राप्त करने का साधन भी शुद्ध होना चाहिए। तो बुनियादी शिक्षा क्या है? बुनियादी शिक्षा तो शिक्षा प्राप्ति का साधन शुद्धि की व्यवस्था है। मैकालेवादी शिक्षा भी शिक्षा तो है, पर उसकी प्राप्ति में साधनशुद्धि का ध्यान बिलकुल नहीं है। "शिक्षा तो अच्छी चीज है, इसलिए इसे भिक्षा के रूप में भी ग्रहण कर लो।" और शिक्षा तो अच्छी चीज है, इसलिए उसे अपने बाप के धन से खरीद लो, ये सिद्धांत शिक्षा प्राप्ति के साधन को अशुद्ध एवं भ्रष्ट कर देते हैं और मैकालेवादी शिक्षा प्राप्त करने वाले पढ़े-लिखे, डिग्रीधारी, क़ाबिल लोग यदि दफ्तरों की कुर्सियों पर आसीन हो जाने पर कामचोर साबित हैं, रिश्वतखोर साबित होते हैं, हरामखोर साबित होते हैं तो यह परिणाम शिक्षा का बस इसीलिए आता है कि जब ये लोग अपने

बाल्यकाल में तथाकथित शिक्षा पा रहे थे तब ये लोग शत-प्रतिशत मुफ़्तख़ोरी का अभ्यास कर रहे थे और उस मुफ़्तख़ोरी को अपना अधिकार मानते थे। बस, यही कारण है कि देश की यह मैकालेवादी शिक्षा यद्यपि फैलाई तो गई है और फैली भी है, परंतु इसके साथ-साथ देश के लोगों का नैतिक पतन भी होता गया है तथा होता जा रहा है।

तो गांधी की सबसे बड़ी देन बुनियादी शिक्षा के माध्यम से यही है कि शिक्षा की प्राप्ति बाल्यकाल में ही, अर्थात् शिक्षार्थी-जीवन में ही उत्पादक श्रमपूर्ण उद्यम करते हुए की जाए क्योंकि ऐसा करने से ही शिक्षा में कर्तव्यपालन का संस्कार जुड़ा हुआ रहेगा वरना शिक्षा का नैतिकता से, या कर्तव्य के निर्वाह से तलाक हो जाएगा और शिक्षा देश के लिए शुभ के बजाय अशुभ और वरदान के बजाय अभिशाप साबित होगी। मैकालेवादी शिक्षा ने यह महा खतरनाक भ्रम इस देश में फैला रखा है कि विद्यार्थी के विद्यार्थी जीवन में उत्पादक परिश्रम को स्थान देना विद्यार्थी पर अत्याचार करना है। बुनियादी शिक्षा को इन मैकालेवादियों ने जो ख़ारिज कराया तथा उसे कूड़ेदान में फिकवा दिया उसके पीछे यही भ्रामक प्रचार था कि बुनियादी शिक्षा तो शिक्षा के नाम पर सुकुमार बच्चों पर अत्याचार है, बुनियांदी शिक्षा तो बालकों का श्रम शोषण है। (बुनियादी शिक्षा तो "चाइल्ड लेबर एक्सप्लायटेशन' है)। मैकालेवादियों का यह भ्रामक प्रचार तो सफल हुआ, पर देश को उससे जो क्षति हुई है वह अपूरणीय है।

सौभाग्य से, जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली में सन् 1941-42 में जब मैंने बुनियादी शिक्षा का प्रशिक्षण प्राप्त किया तो डा. ज़ाकिर हुसैन ने भी दस दिनों तक हमारी क्लास ली थी। हमने एक दिन उनसे पूछा कि बुनियादी शिक्षा में उद्यम को शिक्षा का माध्यम अथवा केंद्र क्यों बनाया गया है! तो ज़ाकिर साहब का जवाब यह था कि बच्चों का मनोविज्ञान कहता है कि उनकी आयु में उन्हें हाथों से कुछ न कुछ करने की जन्मजात रुचि एवं प्रवृत्ति होती है और शिक्षा का माध्यम या केंद्र ऐसा ही होना चाहिए जो विद्यार्थी की आयु के अनुसार उसकी रुचि के अनुकूल हो। इसी कारण से बुनियादी शिक्षा में उद्यम अथवा दस्तकारी को शिक्षा का माध्यम या केंद्र बनाया गया है।

पर, इसके साथ ही हमने उनसे एक सवाल और पूछा था और वह सवाल यह था कि क्या बच्चों से आर्थिक लाभ या कमाई का काम लिया जाना चाहिए? तो ज़ाकिर साहब का जवाब यह था कि "यदि आपको बच्चों से होने वाली कमाई में कोई पाप दिखाई देता हो तो आप उनसे होने वाली कमाई को भले ही समुद्र में फेंक देना, पर उनकी शिक्षा तथा उनके चरित्र निर्माण के लिए उनसे कमाई कराना बंद मत करना क्योंकि यदि उद्यम से कमाई नहीं होगी तो उद्यम उद्यम नहीं रहेगा, दुरुद्यम हो जाएगा।

डा. जाकिर के इन वचनों को हमें भूलना नहीं चाहिए। अत्याचार बच्चों को उद्यम सिखाने में नहीं है बल्कि अत्याचार तो बच्चों पर बस्ते का भारी बोझ लाद कर उस पर परीक्षा के भूत का हौवा खड़ा करके उसे लगातार भयभीत एवं चिंतित रखने में है। आज न तो सरकार, न तो स्कूल वाले और न माता पिता इस बात को देख रहे हैं कि शिक्षा

के नाम पर ठेठ नर्सरी स्कूल से ही हमारे बच्चे बेचारे अपनी पढ़ाई तथा परीक्षा के 'टेंशन' में जी रहे हैं। उनकी बाल्यकालीन मस्ती ख़त्म कर दी गई है। तो जो बच्चे बाल्यकाल में ही मुफ़्तखोरी के अभ्यस्त हो जाएंगे, बचपन में ही जिनके हाथों को लकवा लगा दिया जाएगा और बचपन में ही जिन्हें परीक्षा के भूत के भय से चिंतित एवं भयभीत रखा जाएगा वे आगे जाकर देश के किस प्रकार के नागरिक बनेंगे? वे किस हद तक अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करेंगे तथा अपनी नैतिका पर खरे उतरेंगे? इसे हम आज की अपनी सरकार तथा अपने समाज की नैतिक दुर्दशा में प्रयास देख रहे हैं।

13. ब्रिटिश शासन की विरासत से मिली सरकारी नौकरशाही ने बुनियादी शिक्षा को भारत में इसलिए नहीं चलने दिया कि यदि यह शिक्षा सचमुच सही ढंग से चल जाती तो इससे शिक्षक एवं शिक्षा सरकारी शिंकजे से मुक्त हो जाती और अंत में स्वयं सरकार को भी अपना आकार तथा वर्चस्व घटाना पड़ता।

यदि मैं यह कहूं कि शिक्षित व्यक्ति तो वह है जिसे ईमानदार कर्तव्य परायण, अनुशासित, नियमपालक, न्यायी तथा सहृदय रखने के लिए किसी पहरेदार या निरीक्षक की कोई जरूरत नहीं होती, तो क्या मेरा यह कथन गलत होगा? मुझे उम्मीद है कि मेरे इस कथन को कोई भी व्यक्ति या कोई भी शिक्षाविद् गलत नहीं मानेगा। तो अब मेरा आगे का प्रश्न यह है कि यदि शिक्षा के फलस्वरूप वास्तव में देश के नागरिक ईमानदार एवं कर्तव्य परायण हो जाएं, स्वावलंबी, सहयोगी तथा सहृदय बन जाएं तो देश में पुलिस की, न्यायालयों की, वकीलों की और जेलों की आवश्यकता घटेगी या बढ़ेगी? तो इसका भी स्पष्ट उत्तर यही होगा कि इससे पुलिस, वकील, न्यायालय तथा जेलों की आवश्यकता घटेगी। इसके बाद यदि मैं यह प्रश्न करूं कि यदि शिक्षा के फलस्वरूप लोग अपने दुर्व्यसन छोड़ दें तथा स्वास्थ्य के नियमों का स्वयं पालन करके आम तौर पर स्वस्थ रहें तो वैद्यों, हकीमों, डाक्टरों, हस्पतालों, औषधालयों की जरूरत घटेगी या बढ़ेगी, तो उत्तर यही होगा कि उस दशा में चिकित्सा, चिकित्सालयों की जरूरत घट जाएगी। अंत में यदि प्रश्न यह हो कि यदि शिक्षित लोग ऐसे बन कर शिक्षालयों से निकलें कि जो निज व्यवसाय में स्वयं लग जाएं और बेरोजगार बन कर सरकार से नौकरी नहीं मांगें तो कर्मचारियों पर जो खर्चा सरकार आज उठा रही है, वह घटेगा या बढ़ेगा? तो इसका जवाब भी यही होगा कि तब बहुत थोड़े कर्मचारियों से ही काम चल जाएगा, कर्मचारियों को जल्दी रिटायर करके उन्हें बिना काम पेंशन देने का भार भी घटेगा।

तो इस प्रश्नोत्तर से स्पष्ट है कि देश में यदि शिक्षा को सही कर दिया जाए, सुधार दिया जाए और यदि देश में शिक्षा सफल हो जाए तो देश में सरकार का कार्यभार तथा सरकार का दायित्व तथा सरकार का तंत्र-विस्तार भी बहुत घट जाएगा। तो महात्मा गांधी की जो स्वराज की कल्पना थी, वह सरकार के वर्तमान कार्यभार, सरकार के वर्तमान दायित्व तथा सरकार के वर्तमान तंत्र-विस्तार को

घटाकर बहुत सीमित करने की थी। सरकार का अस्तित्व तो बेशक अनिवार्य है, पर सरकार पर जनता को संभालने का कार्यभार क्या उतना ही होना जरूरी है जितना वह आज है? शिक्षा एवं शिक्षक का मूल प्रश्न बस यही है। प्राचीन भारतीय आदर्श भी यही था कि राज्य तथा राजा हों तो अवश्य, पर उनका दायित्व उनका कार्यभार और उसका तंत्र-विस्तार सीमित होना चाहिए और राज्य के कार्यभार का यह परिसीमन देश की आचार्य-शक्ति से, देश में सुस्थापित आचार्यानुशासन या आचार्य-सत्ता से ही संभव है। प्राचीन भारत में समाज दो टांगों पर टिका हुआ था। एक टांग थी आचार्य के रूप में और दूसरी टांग थी राजा के रूप में। साथ ही इन दोनों टांगों या समाज के दोनों स्तंभों में समतापूर्ण सहयोग था। आचार्य सरकार से सम्मान तथा भेंट पूजा तो प्राप्त करता था पर वह गवर्नमेंट सर्वेंट नहीं था। आचार्य-सत्ता एक स्वायत्त सत्ता थी। सरकार किसी भी आचार्य का ट्रांसफर नहीं कर सकती थी। आचार्य तथा आचार्य की भार्या तो शिक्षार्थी के लिए पिता और मां का रूप थी। तो जैसे छात्र के माता पिता का ट्रांसफर अकल्पनीय था वैसे ही छात्र के आचार्य का ट्रांसफर भी अकल्पीय था। तो गांधी जी द्वारा प्रवर्तित बुनियादी शिक्षा में जो उद्यम की प्रधानता एवं स्वावलंबन का आग्रह है वह अंततोगत्वा, तथा गहराई से देखने पर, समाज में एक नैतिक अथवा चारित्रिक उन्नयन का आग्रह है ताकि समाज अपनी सुव्यवस्था में आधिकाधिक आत्मनिर्भर हो जाए और राज्य की सत्ता एवं उसका शासन तंत्र अधिकाधिक सीमित एवं हलका बन जाए। गांधी की स्वराज की कल्पना यही थी।

तो मैकालेवादी शिक्षा तथा बुनियादी शिक्षा के बीच जो मौलिक अंतर अथवा बुनियादी फ़र्क़ है वह यही है कि मैकालेवादी शिक्षा का मक्सद शिक्षक अथवा आचार्य को राज्याधीन करके शिक्षा को सरकारी तंत्र का विस्तारक बनाना है, सरकारी तंत्र को भारी बनाना है और बुनियादी शिक्षा का मकसद शिक्षक अथवा आचार्य को सरकारी गुलामी से निकालकर उसे उसकी स्वायत्तता तथा उसको उसकी विशिष्ट गरिमा पुनः भेंट करना है जो प्राचीन भारत में उसे प्राप्त थी। यानी बुनियादी शिक्षा वस्तुतः शिक्षा तथा शिक्षक को राजकीय गुलामी से (अर्थात् उस राजकीय गुलामी से जो उस घर पर ब्रिटिश राज में मैकाले द्वारा थोपी गई थी) मुक्त करना है। अब यदि ऐसी शिक्षा को ब्रिटिश राज्य द्वारा स्थापित भारतीय नौकरशाही ने नहीं चलने दिया तो यह कोई आश्चर्यजनक बात तो नहीं है इस नौकरशाही से दूसरी तरह की आशा की ही नहीं जा सकती थी।

पाठकों को याद होगा कि जब इंदिरा गांधी ने देश में आपातकाल अथवा एमरजेंसी लगा दी थी, तब विनोबा भावे ने देश के आचार्यों से अपील की थी कि वे देश की इस संकट की घड़ी में भारत के प्राचीन आचार्य की भूमिका का अब पुनः निर्वाह करें तथा जगह-जगह 'आचार्यकुल' नामक समितियों के रूप में संगठित होकर इस आपातकाल से निपटें। तो देश का शासन सीमित एवं हल्का फुलका रखने के लिए ही नहीं, बल्कि समाज को शासक की ज्यादतियों से बचाने के लिए भी देश में आचार्य

शक्ति को स्थापित करने तथा पुष्ट करने की आवश्यकता है और इस कार्य के लिए बुनियादी शिक्षा में क्षमता भी थी। बुनियादी शिक्षा की यह क्षमता न केवल नौकरशाही के लिए प्रतिकूल है बल्कि देश की राजनीतिक पार्टीबाजी के लिए भी प्रतिकूल है। तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि नौकरशाही के साथ-साथ राजनीतिक पार्टियां भी बुनियादी शिक्षा को न तो प्रश्रय दें और न उसे पनपने दें।

14. बुनियादी शिक्षा का तीसरा महत्वपूर्ण आयाम—ज्ञान की प्राप्ति केवल ज्ञान के परिग्रह के लिए नहीं करना बल्कि स्थानीय देशकाल पात्र की दृष्टि से प्रासंगिक एवं उपयोगार्थ ज्ञान ही प्राप्त करना ताकि छात्र की शिक्षा देश काल पात्र की संयुक्त शिक्षा का रूप ले ले।

बुनियादी शिक्षा में एक आयाम तो भाषा से संबंध रखता है और दूसरा आयाम उत्पादक देह श्रम एवं उद्यम से संबंध रखता है। मैने इन दोनों आयामों की व्याख्या एवं समीक्षा करने का यथाशक्ति प्रयास अब तक के पृष्ठों में किया है। पर बुनियादी शिक्षा का तीसरा आयाम अभी भी चर्चित होना शेष है और वह आयाम है शिक्षा में समवायी सिद्धांत का, अथवा शिक्षा की विषय-वस्तु की विकेंद्रित प्रासंगिकता का। इस तीसरे आयाम को स्पष्ट करते हुए बुनियादी शिक्षा यह मानती है कि जो भी बौद्धिक ज्ञान विद्यार्थियों को दिया जाए वह विद्यार्थियों के निर्धारित स्कूली उद्यम के लिए अथवा स्कूल के प्राकृतिक परिवेश की दृष्टि से, अथवा स्थानीय समुदाय की दृष्टि से प्रासंगिक होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान की प्राप्ति केवल इसलिए नहीं करनी है कि ज्ञान बहुमूल्य संपदा है जिसका हमारे ज़हन में अधिकाधिक संग्रह होना चाहिए। वास्तविकता यह है कि ज्ञान संपदा तो अपार है। हम अनेक जन्मों में भी सर्वज्ञ नहीं बन सकते। पर राहत की बात यह है कि हमें ज्ञान को ज्ञान के लिए ही बटोरने की कोई जरूरत नहीं है। इस विषय में गीता के दूसरे अध्याय का छियालीसवां श्लोक बहुत सटीक है। इसमें कहा गया है—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।

अर्थात्, "मान लो कि चारों तरफ पानी ही पानी छा गया है। पर क्या हमें उस समस्त पानी से कोई काम है। हमें तो इतने अधिक पानी में से भी उतना ही ग्रहण करना होगा जितना कि (चारों तरफ पानी नहीं होने की हालत में) हम किसी (रास्ते में स्थापित) प्याऊ से पीते।"

तो जिस प्रकार परिग्रह धन संपदा का शुभ नहीं है, उसी प्रकार परिग्रह ज्ञान-विज्ञान का भी शुभ नहीं है। मैं यहां यद्यपि श्लोकों को उद्धृत तो नहीं कर रहा हूं, पर ईशावास्य उपनिषद् में भी ज्ञान विज्ञान का परिग्रही बनने के विरुद्ध मनुष्यों को चेतावनी दी गई है। तो बुनियादी शिक्षा का यह तीसरा आयाम भी इस लेख के शुरू में व्याख्यायित पहले तथा दूसरे आयामों से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

आज की मैकालेवादी शिक्षा एक पूरे राज्य के हर कोने में चलने वाले विद्यालय के लिए बिलकुल एक समान पाठ्यक्रम को निर्धारित कर देती है, जिसमें स्थानीय उद्यम या स्थानीय भौतिक, सामाजिक

एवं सांस्कृतिक परिवेश के बारे में सर्वथा उदासीनता बरती जाती है। विद्यार्थी यूरोप, अमरीका, अफ्रीका बाबत भले ही कुछ जान लेगा, पर अपने परिवेश में जो भूगोल है, परिवेश के पीछे जो इतिहास है, परिवेश में जो खनिज या वनज संपदा है, परिवेश में जो अर्थ-व्यवस्था है उसके प्रति सर्वथा अनजान तथा उदासीन बना रहेगा तथा अपने परिवेश से कट कर केवल आत्मकेंद्रित बन जाएगा। यहां मेरे पड़ोस में एक शिक्षण संस्था है जिसका मुख्य फाटक के बाहर एक गड्ढा एक लंबे अर्से से एक ख़तरा बना हुआ है। पर उस शिक्षण संस्था के सिलेबस में तो उस गड्ढे को ढकने या भरने की बात 'प्रीस्क्राइब्ड' नहीं है। उस गड्ढे की दुरुस्ती से छात्रों को परीक्षा में नंबर मिलने वाले नहीं हैं। तो हमारी बिलकुल एक समान ही शिक्षा-क्रम पूरे राज्य के हर कोने के लिए प्रीस्क्राइब करने की नीति ने हमारे तथा कथित शिक्षित व्यक्ति को अपने परिवेश तथा उसमें घटने वाली घटनाओं के लिए सर्वथा संवेदना हीन तथा सर्वथा आत्मकेंद्रित बना दिया है। तो ऐसे शिक्षित व्यक्ति हमारे सामाजिक प्रदूषण, राजनीतिक प्रदूषण, सांस्कृतिक प्रदुषण, तथा प्राकृतिक अथवा पर्यावरणीय प्रदूषण पर क्यों तो ध्यान देंगे, क्यों उसकी चिंता करेंगे और क्यों उसके इलाज से जुड़ेंगे? तो आज हमारे देश में जो सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा भौगोलिक अथवा पर्यावरणीय प्रदूषण बड़े आराम से और बड़े ठाठ से बढ़ता जा रहा है उसका मूल कारण है हमारी मैकालेवादी शिक्षा का अतिकेंद्रीकृत तथा अति समान रूप शिक्षा क्रम जिसमें स्थानीय ज्ञान एवं स्थानीय समस्याओं की नितांत उपेक्षा है।

तो बुनियादी शिक्षा का तीसरा आयाम जिसे हम समवाय एवं प्रासंगिकता का आयाम मान सकते हैं, शिक्षा में एक विकेंदीकरण लाने पर बल देता है। इसका यदि पालन होने लगे तो स्कूल एक ऐसी संस्था बन जायेगा कि जो अपने आस-पास के समाज एवं भूगोल से सक्रिय एवं सजीव होकर जुड़ेगा। इससे शिक्षित व्यक्ति में अपने पड़ोस की समस्याओं के प्रति सजगता एवं संवेदनशीलता आयेगी। इससे एक संभावना यह भी बनती है कि स्कूल संस्था अपने शिक्षक बल एवं छात्रबल का प्रयोग स्थानीय परिवेश के सुधार के लिए भी करे। मेरा स्वयं का इस तरह का प्रत्यक्ष अनुभव उन दिनों का है जब कि मैं अपने बुनियादी विद्यालय का प्रभारी था। पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि जिस बुनियादी विद्यालय में मैं काम करता था, उसमें सरकारी पाठ्यक्रम के बजाय सातों कक्षाओं में हमारा अपना पाठ्यक्रम चलता था जिसमें स्थानीय परिवेश का ज्ञान महत्वपूर्ण था। इस विद्यालय में छात्र ही नहीं सुधरता था, इसके सहयोग से स्कूल का भौतिक एवं सामाजिक परिवेश भी सुधरने लगा था। तो इसको समझकर मैंने बुनियादी शिक्षा की एक परिभाषा इस नाम से की थी—कि "बुनियादी शिक्षा तो देश-काल-पात्र की संयुक्त शिक्षा है।"

15. बुनियादी शिक्षा यानी जीवन द्वारा जीवन की आजीवन शिक्षा—

पर जब हम अपने कर्म से ही, अर्थात् अपने उत्पादक श्रम एवं उद्यम से ही शिक्षा ग्रहण करने लग जाते हैं तो हम तो शिक्षा रूपी खाद्य को कर्मरूपी खेती से स्वयं पैदा करने वाले बन जाते

हैं। जो किसान अपने खेत से खाद्य को स्वयं पैदा कर लेता है वह अपनी आवश्यकता पूर्ति के बाद बचे हुए खाद्य को भले ही बेचे, पर स्वयं उसे किसी बाजार के भंडार से खाद्य खरीदना नहीं पड़ता। इसी तरह जिसके घर के साथ शुद्ध जल का स्रोत है, उसे बाहर से पानी नहीं लाना पड़ता। तो बुनियादी शिक्षा की ईमानदारी यह है कि वह शिक्षा का स्टोर या शिक्षा का विक्रय भंडार या वितरण केंद्र नहीं है। वह तो शिक्षा के मूलस्रोत का, अर्थात् उत्पादक श्रम एवं उद्यम रूपी मानव के आदि गुरु, अथवा मानव के मूल गुरु का मिलन छात्र से करवा देती है। बुनियादी शिक्षा न तो शिक्षा का दूध बेचती है और न गरीब बच्चों को अमूल कंपनी का दूध खरीद कर खैरात में बांटती फिरती है। बुनियादी शिक्षा छात्र को ज्ञान की गाय ही सौंप देती है और गोपालन की विधा ठीक से सिखा देती है। तो नतीजा क्या होता है? नतीजा यह होता है कि छात्र स्वयं ही शिक्षक से छुट्टी पाकर भी अपने कर्माचार्य से शिक्षा ग्रहण करने लग जाता है और आत्मशिक्षक बन जाता है। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा छात्र के लिए जीवन द्वारा जीवन की आजीवन शिक्षा का रूप ले लेती है।

16. छात्र एवं शिक्षक की संयुक्त शिक्षा—अब अंत में इस प्रश्न पर विचार कीजिए कि मानव जाति के आदिम, मूल तथा सनातन गुरु से एक शिक्षक यदि अपने छात्र को परिचित कर देता है तो क्या वह स्वयं भी उसे परिचित नहीं हो जाएगा और उसे भी अपने स्वयं के जीवन द्वारा अपने स्वयं के जीवन की आजीवन शिक्षा करने की तथा हमेशा नयी शिक्षा का ताजा दूध पाते ही रहने की क्षमता प्राप्त नहीं होगी? क्या इस तरह शिक्षा के काम से उसे ऐसा पुरस्कार एवं संतोष नहीं मिलेगा कि जिसके आगे उसके वेतन भत्ते, उसके बोनस तथा उसकी ग्रेज्युइटि तथा उसकी पेंशन का महत्व गौण हो जायेगा और उसे अपनी असंतुष्टि मिटाने के लिए हड़ताल नहीं करनी पड़ेगी?